



किसान आंदोलन

भारतीय इतिहास में किसानों द्वारा अपने ऊपर किए जा रहे अत्याचार या शोषण का प्रतिरोध करना कोई नई बात नहीं रही है। अपना प्रतिरोध दर्ज करने के लिए उन्होंने जो तरीके अपनाए वो आमतौर पर दो तरह के थे - एक, अत्याचारी शासक या स्थानीय जमींदार के अधिकार क्षेत्र से दूर जाकर किसी और इलाके में खेती करना तथा दूसरा, सीधे तौर पर उन अत्याचारियों का विरोध करना। यह विरोध अक्सर आक्रामक या हिंसक रूप भी अख्तियार कर लेता था।

पहले किस्म के विरोध प्रदर्शन के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात हमें याद रखनी चाहिए कि आज से करीब 100 साल पहले तक शासक वर्ग के लिए भूमिकर आय का सबसे बड़ा व महत्वपूर्ण स्रोत था। ऐसे में किसी शासक के इलाके के किसान शासक से तंग आकर उसका

इलाका छोड़ किसी और इलाके में चले जाएं तो इसका सीधा असर उस शासक की आय पर पड़ता था। इसलिए शासक वर्ग यह कभी नहीं चाहता था कि किसान उसका इलाका छोड़कर जाएं। आज की स्थिति के विपरीत पुराने समय में देश के ऐसे सभी इलाके जहां खेती की जा सकती थी, वहां खेती नहीं हो रही थी। उस समय किसी भी व्यक्ति को यह छूट थी कि वह कहीं भी जमीन तोड़कर खेती करना शुरू कर सकता था। इस काम में उस इलाके का शासक वर्ग भी उनकी मदद करता था – क्योंकि इसका फायदा उन्हें भी मिलने वाला होता था। किसानों द्वारा विरोध प्रदर्शन का यह तरीका सबसे ज्यादा प्रचलित था और सैकड़ों साल तक किसानों ने इसका इस्तेमाल किया।

इसी के साथ दूसरे किस्म के विरोध प्रदर्शन, यानी शासक वर्ग की सत्ता को चुनौती देना, भी होते थे। ऐसा एक उदाहरण हमें छठवीं शताब्दी में दक्षिण भारत से मिलता है। जब कलभ्र नामक एक कबायली जाति के लोगों ने ब्राह्मणों और अन्य उच्च वर्ण के लोगों से उन्हें शासकों द्वारा दान में मिली जमीनें छीन ली थीं। इसी तरह दसवीं शताब्दी में पूर्वी भारत में कैवर्ती ने, जो कि कलभ्रों की ही तरह नीची जाति के लोग थे – पाल शासक महीपाल के समय में अपनी जमीन वापस पाने के लिए विद्रोह किया था। इस किस्म के विरोध प्रदर्शन भारत में पूर्व मध्यकाल से शुरू होकर अंग्रेजों का शासन स्थापित होने तक बहुत ही आम हो गए थे। लेकिन इस किस्म के विरोध प्रदर्शन या विद्रोहों की जो सबसे खास बात थी कि इन विद्रोहों का नेतृत्व स्थानीय जमींदार या भूमिकर व्यवस्था से जुड़े निचले तबके के अधिकारियों के हाथों में होता था और आमतौर पर ये विद्रोह शासक के स्तर पर किए गए परिवर्तनों के विरोध में होते थे।

इस समय के विद्रोहों का अध्ययन करने पर हमें यह भी पता चलता है कि अंग्रेजों की व्यवस्था शुरू होने से पहले तक जमींदारों या निचले स्तर के शासकीय अमलों के, किसानों से संबंध आमतौर पर अच्छे थे और इसी कारण यह जमींदार वर्ग विद्रोहों के दौरान किसानों का नेतृत्व संभाल पाता था।

लेकिन अंग्रेजों की शासन व्यवस्था आरंभ होने के बाद जमींदारों और किसानों के बीच का यह सौहार्दपूर्ण संबंध ज्यादा दिनों तक नहीं चल पाया। इसका कारण बनी अंग्रेजों द्वारा लागू की गई नई भूमिकर

व्यवस्थाएं। इन व्यवस्थाओं ने भूमि को एक परिवर्तनीय (हस्तांतरणीय) संपत्ति के रूप में बदल दिया, अर्थात् भूमि अब खरीद-बिक्री की जा सकने वाली एक वस्तु बन गई। इसी के साथ पुराने जमींदारों या भूमिकर वसूलने वालों का स्थान नए जमींदारों व साहूकारों ने ले लिया जिसके कारण पुराने जमींदारों व किसानों के बीच सदियों से जो सौहार्दपूर्ण संबंध थे वे खत्म हो गए। यह सब किस प्रकार हो पाया इसे थोड़ा समझने की जरूरत है।

एक औपनिवेशिक ताकत के रूप में अंग्रेजों का उद्देश्य भारत से ज्यादा-से-ज्यादा पैसा कमाना था। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत वे भारत में भूमिकर के माध्यम से ज्यादा-से-ज्यादा पैसा उगाहने की कोशिश करते थे और फिर इसी पैसे से भारत का सामान खरीद कर इंग्लैंड व यूरोप के अन्य देशों में बेचकर मुनाफा कमाते थे। इन व्यापारिक गतिविधियों के कारण उन्हें पैसा अधिक मात्रा में तथा निर्धारित समय पर चाहिए होता था। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने भूमिकर की ऐसी व्यवस्थाएं बनाईं जिसमें उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा पैसा नियत समय पर प्राप्त हो सके। इन व्यवस्थाओं ने परंपरागत रूप से चली आ रही भूमिकर से संबंधित संरचना को तोड़ दिया। जब पुराने जमींदार अत्याधिक ऊंची दर पर निश्चित समय सीमा के अन्दर कर उगाहने में असफल रहे तो उन्हें हटाकर नए लोगों को इसकी जिम्मेदारी दे दी गई। इन नए लोगों को कृषि के विकास या किसानों की भलाई की कोई चिंता नहीं थी उन्हें तो केवल कर से मतलब था जिसे उन्हें एक नियत तिथि से पहले जमा करना पड़ता था। (एक अध्ययन के अनुसार बंगाल में केवल 30 वर्षों में भूमि कर की दर मुगल काल की दर से दोगुनी हो गई थी।) जिन इलाकों में जमींदारों की जगह सीधे किसानों से कर वसूलने की व्यवस्था थी वहां भी कर की ऊंची दर तथा निश्चित तारीख के कारण किसान काफी मुश्किल में थे। समय पर कर न चुकाने पर जमीन की नीलामी का डर बना रहता था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज शासन को इस बात की परवाह नहीं होती थी कि सूखा पड़ा है या अकाल, उन्हें तो तय राशि चाहिए ही होती थी। नतीजा यह हुआ कि किसान धीरे-धीरे महाजनों के चंगुल में फंसते चले गए और इस तरह उनकी जमीन, फसलें व पशु उनके हाथ से निकल कर जमींदारों, व्यापारियों-महाजनों और धनी किसानों के हाथ में पहुंचते गए। खुद की जमीन जोतने वाले छोटे किसानों की हैसियत

महज काश्तकारों, बटाईदारों व खेतिहर मजदूरों की ही रह गई। देशी और विदेशी शोषण के इस चक्र को तोड़ने के लिए किसानों ने कई कोशिशें कीं। सन् 1780 से लेकर 1857 की क्रांति तक इन किसानों ने अपने पुराने जमींदारों व शासकों के नेतृत्व में भारत में जगह-जगह पर अंग्रेजों के खिलाफ अनेक विद्रोह किए। मगर ये सारे विद्रोह असफल रहे और अंग्रेजों ने इन्हें सख्ती से दबा दिया।

सन् 1858 के बाद किसानों के आन्दोलन में थोड़ा बदलाव आया। अब किसानों ने अपनी मांगों को लेकर सीधे लड़ना शुरू किया। उनकी ज्यादातर मांगें आर्थिक होती थीं और आमतौर पर विदेशी बगान मालिकों, देशी/विदेशी जमींदारों व महाजनों के खिलाफ होती थीं। उनके संघर्ष का उद्देश्य बहुत ही सीमित था। कहीं-कहीं तो यह उत्पीड़न के खिलाफ बदले की कार्रवाई तक ही सीमित रह गया था। इसके अलावा ये आंदोलन क्षेत्र विशेष तक सीमित रह गए क्योंकि उस समय तीव्र गति की संपर्क सुविधाएं नहीं थीं। संघर्ष में न तो निरंतरता थी, न ही दीर्घकालीन संगठन। जब किसी आंदोलन के खास उद्देश्य पूरे हो जाते तो वह समाप्त हो जाता और इसी के साथ संगठन और एकता भी खत्म हो जाती थी। जैसे बंगाल का 'नील आंदोलन', 'पाबना कृषक आंदोलन' तथा दक्कन में महाजनों व साहूकारों के खिलाफ छेड़ी गई मुहीम अपने शुष्कआती उद्देश्यों को प्राप्त कर लेने के बाद आगे नहीं बढ़ पाई।

वैसे इन आंदोलनों में किसानों ने अद्भुत साहस व बलिदान का परिचय दिया। उनमें गजब की संगठन क्षमता थी। एक ऐसी एकता जिसने जाति-धर्म के सारे बंधन तोड़ दिए। अपनी इसी एकता और साहस के बल पर वे उपनिवेशवादी सरकार से रियायतें हासिल करने में सफल रहे। उस दौर में जबकि सरकार उनके खिलाफ थी, कानून और उनकी मांगों पर गौर करने के लिए बने ट्रिब्यूनल उनके खिलाफ थे, प्रेस (जो कि मुख्यतः यूरोपीय व सरकार समर्थक थी) उनके खिलाफ थी, उनकी यह सफलता खास मायने रखती है।

लेकिन ये किसान किसी बदलाव के लिए नहीं बल्कि यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए लड़ रहे थे। मसलन उन्होंने कभी जमीन पर मालिकाना हक या जमींदारी के खिलाफ लड़ाई नहीं छेड़ी। उन्होंने लड़ाई छेड़ी ज्यादा लगान और जमीन से बेदखल करने के खिलाफ।

सूदखोरी के खिलाफ उन्होंने आंदोलन नहीं किया – आंदोलन किया महाजन की चार सौ बीसी के खिलाफ – जो कर्ज के बदले उनकी जमीन हड़पने लगे थे।

इस तरह 19 वीं सदी के किसान आंदोलनों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को ठीक से जानते-समझते नहीं थे। और उनका कोई ठोस सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम भी नहीं था। उनमें किसी नए समाज की परिकल्पना नहीं थी, एक ऐसी परिकल्पना जो देश के तमाम नागरिकों को एक सामूहिक लक्ष्य के लिए संघर्ष करने के लिए एकताबद्ध करती और एक दीर्घकालीन राजनीतिक आंदोलन को जन्म देती।

20वीं सदी की शुरुआत से ही बदली हुई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने किसानों में एक नई चेतना का संचार किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान बढ़ती मंहगाई तथा लड़ाई चन्दा, भरती चन्दा जैसी जबरन वसूलियों ने उनकी स्थिति और भी खराब कर दी। रौलेट एक्ट और जनरल डायर के कारनामों से साम्राज्यवाद का असली रूप उनके सामने आया। सन् 1917 की रूसी क्रांति में समाजवाद की विजय ने उन्हें उम्मीद की एक नई किरण दिखाई।

इन्हीं हालातों में किसानों ने एक बार फिर अपने आपको संगठित करना शुरू किया। जगह-जगह जमींदारी व औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ किसान-सभा व किसान संगठनों का गठन होने लगा तथा किसान बड़-चढ़ कर न केवल साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में शामिल होने लगे बल्कि उन्होंने अपने वर्गीय हितों की लड़ाई भी शुरू की।

किसानों के ऐसे ही एक स्वतः-स्फूर्त आन्दोलन का विवरण हम यहां दे रहे हैं। यह आन्दोलन सन् 1920 से थोड़ा पहले बिहार के भागलपुर जिले में एक अंग्रेज जमींदार – मिस्टर ग्रांट – के इलाके में छेड़ा गया था। इस विवरण को पढ़ते वक्त आपको केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि यहां के जमींदार का अंग्रेज होना महज एक इत्तेफाक है क्योंकि ज्यादातर जमींदार ग्रांट साहब की तरह के ही होते थे। देशी-विदेशी जमींदारों में ज्यादा फर्क नहीं होता था।

इसी के साथ एक और बात – स्वामी सहजानंद ने इस वृत्तांत को सन् 1940 के आसपास लिपिबद्ध किया था। लिपिबद्ध करने के दौरान

उन्होंने अपने काफी सारे विचार इसमें शामिल किए हैं। इस विवरण को पढ़ते वक्त जिस बात का अहसास आपको सबसे ज्यादा होगा वह यह कि ऐसे आंदोलन केवल उन्हीं परिस्थितियों में उभरते हैं जब सभी तरफ से दबाए और सताए किसानों के पास और कोई चारा नहीं होता। यह बात सोनबरसा गांव के किसानों द्वारा छोड़े गए इस आंदोलन के लिए लागू हो सकती है लेकिन सभी किस्म के किसान आंदोलनों के संदर्भ में यह बात सही नहीं है।

किसान आंदोलनों पर आज जो शोध हो रहे हैं उनसे यह पता चलता है कि किसान आंदोलन अधिकांशतः उन्हीं इलाकों में हुए हैं जहां किसानों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। अत्यधिक दबाए-सताए लोगों के उठ खड़े होने के दृष्टांत हमें कम ही मिलते हैं। फिर भी स्वामी जी द्वारा वर्णित इस आंदोलन की सबसे बड़ी खास बात थी कि यहां के किसानों ने किसी भी किस्म की बाहरी सहायता नहीं ली और सभी तरह की परिस्थितियों से निपटने की तैयारी उन्होंने अपने आप की।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में पैदा हुए थे लेकिन उनकी कार्यस्थली मुख्य रूप से बिहार थी। व्यक्तिगत जीवन में एक संन्यासी होते हुए भी स्वामी जी ने न केवल देश के स्वतंत्रता आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया था बल्कि वे अखिल भारतीय किसान सभा के सबसे प्रमुख नेताओं में से भी एक थे। उन्होंने किसानों की दुर्दशा को करीब से देखा और समझा था तथा उनकी अनेक लड़ाइयों का नेतृत्व भी किया था।

यह विवरण हमने उनकी पुस्तक 'किसान कैसे लड़ते हैं' से लिया है। इस पुस्तक में स्वामी जी ने स्थानीय स्तर पर छोड़े गए ऐसे ही अनेक किसान आंदोलनों का जिक्र किया है।

— गौतम पाण्डेय

अगले हिस्से में स्वामी सहजानंद सरस्वती द्वारा लिखा गया विवरण दिया जा रहा है।